शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

भाद्रपद : २४८२ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ अंक : ५

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

जिनभावना

भीषण नरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगईए।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव ॥८॥

हे जीव! तू भीषण-भयंकर ऐसी नरकगति में तथा तिर्यंचगति में और कुदेव एवं कुमनुष्यगति में तीव्र दुःखों को प्राप्त हुआ, इसलिये अब तू जिनभावना अर्थात् शुद्धआत्मतत्त्व की भावना भा—कि जिससे तेरा संसार परिभ्रमण दूर हो।

(भावार्थ) अनादिकाल से संसार में आत्मा की भावना बिना चार गतियों में दुःख प्राप्त किये, इसलिये हे जीव! अब तो तू जिनेश्वरदेव की शरण ले, और भावनारूप से बारम्बार शुद्धस्वरूप का अभ्यास कर—जिससे संसार भ्रमण से रहित ऐसे मोक्ष की प्राप्ति हो।—ऐसा उपदेश है।

(—भावप्राभृत)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१३७]

एक अंक
चार आना

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ [सौराष्ट्र]

ज्ञानी कहते हैं कि
हे जीव! तू स्वोन्मुख हो!

[चर्चा से]

जीव की परिणति या तो आत्मोन्मुख होती है या फिर परोन्मुख;—एक ओर उन्मुख होने का कार्य तो वह करती ही है... अब—

- एक ओर शक्तिरूप से आनन्दमूर्ति 'ज्ञायकस्वभाव' है;
- दूसरी ओर जगत के परज्ञेय-कर्मादि निमित्त हैं;

जिसने इस ओर अन्तरोन्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव के साथ सम्बन्ध जोड़ा, उसका विकार के निमित्तों के साथ सम्बन्ध टूट गया, इसलिये ज्ञायक के साथ सम्बन्ध में उसके ज्ञायकपना ही रहा... निमित्ताधीन विभावों का कर्तृत्व उसके नहीं रहा।

—यह है ज्ञायक आत्मा का धर्म।

इसप्रकार ज्ञायकस्वभाव के साथ एकता करके जो ज्ञायकस्वभावरूप परिणमन हुआ, वह मोक्ष का मार्ग है। इसलिये ज्ञानी कहते हैं कि हे वत्स! तू अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके उसी में अपनी परिणति लगा। पर की ओर से अपनी परिणति खींचकर उसे स्वोन्मुख कर और स्वभाव की महिमा में ही एकाग्र कर....

सुवर्णपुरी समाचार

एक बधाई!!!

भक्तजनों को बधाई देते हुए आनंद होता है कि तीर्थाधिराज श्री सम्मेदशिखरजी धाम की यात्रा पर जाने के निर्णय की घोषणा परम पूज्य गुरुदेव ने इस श्रावण सुद १ के दिन कर दी है। अनेक भक्तजनों की बहुत समय से पूज्य गुरुदेव के साथ सम्मेदशिखरजी तीर्थराज की यात्रा करने की हृदय की भावना थी; इसलिये पूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से उपर्युक्त बधाई सुनने पर सभी भक्तजनों को बड़ा ही उल्लास आया था और अल्प समय में गाँव-गाँव तक उनका सन्देश पहुँच गया था और ये मंगल समाचार सुनते ही चारों ओर से आनंद प्रदर्शित करते हुए तार तथा पत्र आये थे। पूज्य गुरुदेव के महान् प्रभाव का उदय देखकर, तथा पूज्य गुरुदेव के साथ-साथ शाश्वत् सिद्धि-धाम को भेंटने की भावना से, भक्तजनों के हृदय नाच रहे हैं। आगामी वर्ष में प्राय: फाल्गुन मास में सम्मेदशिखरजी पहुँचने पायेंगे।

❀❀❀

सोनगढ़ में जो भव्य जिनमंदिर तैयार हो रहा है, उसके ऊपरी भाग में भगवान श्री नेमिनाथ प्रभु की वेदी-प्रतिष्ठा और कलश-ध्वजारोहण, शुभमूहूर्त आदि कार्तिक मास में आया है; सोनगढ़-प्रतिष्ठा के पश्चात् विहार करके पूज्य गुरुदेव पालेज की ओर प्रस्थान करेंगे; पालेज में नूतन जिनमंदिर में श्री अनंतनाथ भगवान की वेदी-प्रतिष्ठा का शुभमुहूर्त मार्गशीर्ष सूद १४ को निश्चित हुआ है। पालेज-प्रतिष्ठा के पश्चात् पूज्य गुरुदेव बम्बई पधारेंगे और बम्बई से तीर्थधाम सम्मेदशिखरजी की ओर पधारेंगे।

जय सम्मेदशिखर.... जय गुरुदेव!

❀❀❀

परम पूज्य गुरुदेव सुख-शान्ति में विराजमान हैं।

श्रावण सूद पूर्णिमा के दिन रक्षाबंधन के पर्व निमित्त श्री अंकपनाचार्य तथा विष्णुकुमार मुनि संबंधी वात्सल्यपूरित कथा पूज्य गुरुदेव ने की थी। उसी दिन प्रवचन में समाधिशतक का प्रवचन समाप्त हुआ था और 'इष्टोपदेश' पर प्रवचन प्रारंभ हुए थे।

भाद्रपद सुद ५, रविवार से दसलक्षणी पर्यूषण-पर्व का प्रारंभ होगा। उसके पहले दिन (भाद्रपद सुद ५, रविवार) चौदह कुमारिका बहिनें एक साथ आजीवन ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा पूज्य गुरुदेव के समक्ष अंगीकार करनेवाली हैं। यह एक खास प्रभावना का प्रसंग होगा। धार्मिक उत्सवों के दरमियान इस वक्त दोपहर के प्रवचन में 'भक्तामर-स्तोत्र' पर पूज्य गुरुदेव के भक्तिपूर्ण और अध्यात्मरस युक्त प्रवचन होंगे।

आत्मधर्म

भाद्रपद : २४८२ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ अंक : ५

कारणशुद्धपर्याय

[३]

टीकाकार की शैली में कारणशुद्धपर्याय की ध्वनि

[नियमसार गाथा ९ के प्रवचनों से]

आत्मा स्वयं सूक्ष्म—अतीन्द्रिय स्वभावी है, इसलिये उसकी समझ भी सूक्ष्म ही होती है। यह बात सूक्ष्म है, तथापि उसे समझाने का सामर्थ्य भी आत्मा में विद्यमान है। पुण्य-पाप के भाव स्थूल हैं, वे स्थूल भाव तो जीव अनादिकाल से करता ही आया है, उसमें कोई हित नहीं है। पुण्य-पाप से पार अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव को समझना अपूर्व है, और उसी में आत्मा का हित है।

मुनिराज तो कहते हैं कि यह बात भव्यजीवों के कानों में अमृत डालनेवाली है; इसे समझ ले तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दरूपी अमृत का अनुभव हो। भाई! तेरा स्वरूप कैसा है—उसी की यह बात है। यह कैसे हो सकता है कि स्वयं को समझने की आकांक्षा होने पर भी अपना स्वरूप समझ में न आये? जिसे आत्मा की सच्ची लगन हो—अवश्य ही अपने आत्मा का स्वरूप उसकी समझ में आ जायेगा।

नियमसार (९ वीं) गाथा की वचनिका हो रही है।

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था दूदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता॥९॥
जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य, काल अरु आकाश, धर्म अधर्म है।
जिनवर कथित तत्त्वार्थ, गुणपर्याय विधविधयुक्त ये॥९॥

नियमसार की इस ९ वीं गाथा में छह द्रव्यों का कथन है; उनमें से जीव का वर्णन करते हुए टीकाकार कहते हैं कि—

(१) शुद्धसद्भूतव्यवहार से केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों का आधार होने के कारण 'कार्यशुद्धजीव' है।

(२) अशुद्धसद्भूतव्यवहार से मतिज्ञानादि विभाव गुणों का आधार होने के कारण 'अशुद्धजीव' है।

(३) शुद्धनिश्चय से सहजज्ञानादि परमस्वभावगुणों का आधार होने के कारण 'कारणशुद्धजीव' है।

यहाँ, पहले बोल में 'केवलज्ञानादि शुद्धगुण' कहने से शुद्धपर्यायें समझना।

उसीप्रकार दूसरे बोल में 'मतिज्ञानादि विभावगुण' कहा, वे भी पर्यायें हैं।

और तीसरे बोल में भी 'सहजज्ञानादि परमस्वभाव गुण' कहा, उसमें भी पर्याय की ही ध्वनि मालूम होती है। 'सहजज्ञानादि परमस्वभावगुण' कहने से सहजज्ञानादि परम स्वभाव पर्याय अर्थात् 'कारणशुद्ध पर्याय'—ऐसी ध्वनि है, वह कारणशुद्धपर्याय का आधार होने से आत्मा 'कारणशुद्धजीव' है।

—इसप्रकार तीनों बोलों में 'गुण' कहने का तात्पर्य 'पर्याय' से है; पर्याय को कभी-कभी 'गुण' शब्द से भी सम्बोधित किया जाता है; जैसे कि सिद्धदशा में सम्यक्त्वादि आठ शुद्ध पर्यायें प्रगट होने पर भी उन्हें आठ गुण कहा जाता है; और तदनुसार पर्याय को 'गुण ' कहने की इस टीकाकार की मुख्य शैली है। अगली (१० से १५ तक) गाथाओं में कारणशुद्धपर्याय की जिस बात का स्पष्टरूप से वर्णन करेंगे, उसका संकेत यहाँ कर दिया है। टीकाकार की सामान्य शैली ऐसी है कि 'अर्थपर्याय' के लिये 'गुण' शब्द का उपयोग करते हैं और व्यंजनपर्याय के लिये 'पर्याय' शब्द का। यहाँ जीव के गुण-पर्यायों का वर्णन करते हैं, उनमें भी इसी शैली का उपयोग किया है।

जीव चेतन है; जीव के गुण चेतन हैं। जीव अमूर्त है; जीव के गुण भी अमूर्त हैं—इतनी बात तो गुणों की ही है। अब पर्याय की बात करते हैं।

'यह शुद्ध है; इसके गुण शुद्ध हैं। यह अशुद्ध है; इसके गुण अशुद्ध हैं।'—इसमें 'गुण' कहने का तात्पर्य अर्थपर्याय से है। शुद्ध गुण कहने से शुद्ध अर्थपर्यायें समझना चाहिये और अशुद्ध गुण कहने से अशुद्ध अर्थपर्यायें;—गुण कहीं अशुद्ध नहीं होते। शुद्धजीव की अर्थपर्यायें शुद्ध हैं और अशुद्ध जीव की अर्थपर्यायें अशुद्ध हैं। केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के आधारभूत जीव को कार्यशुद्धजीव कहा है; उस शुद्ध जीव की केवलज्ञानादि अर्थपर्यायें शुद्ध हैं। और मतिज्ञानादि

विभावगुणों के आधारभूत जीव को अशुद्धजीव कहा है, उस अशुद्धजीव की अर्थपर्यायें अशुद्ध हैं।—इसप्रकार यहाँ शुद्ध या अशुद्धगुण कहने से शुद्ध या अशुद्धपर्यायें समझना चाहिये।

फिर कहते हैं कि 'पर्याय भी है।' यहाँ पर्याय कहने का तात्पर्य व्यंजनपर्याय से है। जिसप्रकार अर्थपर्यायें शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार की हैं, उसीप्रकार व्यंजनपर्यायें भी शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार की हैं। उनमें से जिस जीव को जो प्रकार योग्य हो, वह समझ लेना चाहिये। यहाँ, व्यंजनपर्याय है—इतनी सामान्य बात ली, किन्तु ऐसा नहीं कहा कि 'शुद्धजीव को शुद्ध व्यंजनपर्याय है;' क्योंकि अरिहंत भगवान कार्यशुद्ध जीव हैं, उनके शुद्ध अर्थपर्याय होने पर भी व्यंजनपर्याय शुद्ध नहीं है, इसलिये शुद्धजीव को शुद्धपर्याय (व्यंजनपर्याय) है—यह बात लागू नहीं होती। यहाँ पर्याय कहने से व्यंजनपर्याय की अपेक्षा है, इसलिये 'शुद्ध जीव की पर्याय शुद्ध है'—ऐसा न लेकर 'पर्याय भी है'—ऐसा सामान्य कथन लिया है। सिद्ध भगवन्तों के शुद्ध व्यंजनपर्याय है, और संसारी जीवों के अशुद्ध व्यंजनपर्याय है;—इसप्रकार जिसे जो योग्य हो, उसे वह पर्याय समझना चाहिये। सिद्धभगवन्तों के अर्थपर्याय शुद्ध है और व्यंजनपर्याय भी शुद्ध है; अरिहंतभगवन्तों के अर्थपर्याय (केवलज्ञानादि) शुद्ध है और व्यंजनपर्याय अशुद्ध है।

यहाँ मुख्य तो यह बतलाना है कि—जैसे 'शुद्ध गुण' और 'अशुद्ध गुण' कहने से टीकाकार का तात्पर्य शुद्धअर्थपर्यायें और अशुद्धअर्थपर्यायें बतलाने का है, उसी प्रकार 'सहज ज्ञानादि परम स्वभावगुण'—ऐसा कहने में भी कारणशुद्धपर्याय बतलाने का टीकाकार मुनिराज का तात्पर्य है। अहो! मुनिराज ने टीका में गम्भीर रहस्य भरे हैं; '**णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता**' अर्थात् द्रव्य विध-विध गुण-पर्यायों से संयुक्त हैं—ऐसा मूलसूत्र में कहा है; उसमें से अद्भुत टीका की है। सहजस्वभावगुण अर्थात् सहजस्वभावरूप कारणशुद्धपर्याय का सदैव आधार होने से आत्मा 'कारणशुद्धजीव' है; उसी को कारणपरमात्मा भी कहा जाता है।

इस कारणशुद्धजीव की भावना से कार्यशुद्धजीव होते हैं। भावना अर्थात् एकाग्रता अथवा आश्रय; कारणपरमात्मा का आश्रय करने से केवलज्ञानरूपी परमात्मदशा प्रगट हो जाती है, वह कार्यपरमात्मा है। श्रद्धापर्याय से कारणपरमात्मा का आश्रय करके उसमें एकाग्रता करने से सम्यग्दर्शन हुआ; ज्ञानपर्याय से अंतर्मुख होकर कारणपरमात्मा का आश्रय करने पर सम्यग्ज्ञान हुआ; चारित्रपर्याय से कारणपरमात्मा की भावना करके उसमें एकाग्र होने पर सम्यक्चारित्र हुआ और उसका फल मोक्ष है। इसप्रकार कारणपरमात्मा की ही भावना से कार्यपरमात्मा होते हैं; अन्य कोई उसका कारण नहीं है।

त्रिकाली शक्ति की अपेक्षा से सर्व जीव सिद्धसमान शुद्धपरमात्मा हैं, इसलिये सभी जीव कारणपरमात्मा हैं... परमात्मा होने का कारण शक्तिरूप से सर्व जीवों में विद्यमान है; उस कारण का भान करके उसके अवलम्बन से जो जीव शुद्धपरमात्मदशा प्रगट करे, उसे कार्यपरमात्मा कहा जाता है।

तीसरी गाथा में मोक्षमार्ग की (कार्यनियम की) बात थी, इसलिये वहाँ मोक्षमार्ग के कारणरूप से 'कारणनियम' के वर्णन में शुद्धज्ञानचेतना 'परिणाम' लिये थे। यहाँ परिपूर्ण शुद्धपर्याय की (कार्य शुद्धजीव की) बात है, इसलिये उसके कारणरूप से 'कारणशुद्धजीव' लिया है। सातवीं गाथा में कार्यपरमात्मा की बात थी, वहाँ भी उसके आधाररूप से कारणपरमात्मा की बात ली थी। तीसरी गाथा में मोक्षमार्ग के कारण का वर्णन था और यहाँ मोक्ष के कारण का वर्णन है, इसलिये टीकाकार ने किंचित् शैली में फेरफार किया है। एक में गुण के शुद्धपरिणाम (-कारणशुद्धपर्याय) की बात ली है और दूसरे में समुच्चयरूप से परिपूर्ण द्रव्य के कारणशुद्धपरिणाम की बात ली है; किन्तु है तो सब अभेद। निर्मल पर्याय प्रगट होने में कहीं द्रव्यगुण और कारणशुद्धपर्याय - इन तीनों का पृथक्-पृथक् अवलम्बन नहीं है; एकाकार अभेद द्रव्य के अवलम्बन में तीनों का समावेश हो जाता है।

देखो, यह जीवद्रव्य का वर्णन! जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय का अद्भुत वर्णन किया है। समयसार की दूसरी गाथा में 'जीवो...' शब्द है, उसकी टीका में अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सात बोलों द्वारा अलौकिक रीति से जीव के स्वरूप का वर्णन किया है। उसीप्रकार यहाँ भी इस गाथा में 'जीवाः....' शब्द है, उसकी टीका में पद्मप्रभमुनिराज ने जीव का अलौकिक वर्णन दूसरे ही ढंग से किया है। यह बात है तो सूक्ष्म। आत्मा स्वयं ही सूक्ष्म (अतीन्द्रिय स्वभावी) है, इसलिये उसे समझने में भी सूक्ष्मता की आवश्यकता होती है; तथापि उसे समझने का सामर्थ्य आत्मा में विद्यमान है। पुण्य-पाप के भाव स्थूल हैं, वे स्थूल भाव तो जीव अनादिकाल से करता ही आया है, उनमें कहीं हित नहीं है। पुण्य-पाप से पार अतीन्द्रिय-आत्मस्वभाव को समझना, वह अपूर्व है और उसी में आत्मा का हित है। भाई! तेरा स्वरूप कैसा है, उसी की यह बात है; स्वयं को समझने की आकांक्षा हो और अपना स्वरूप समझ में न आये, यह कैसे हो सकता है? जिसे आत्मा की सच्ची लगन हो, उसे अवश्य ही अपने आत्मा का स्वरूप समझ में आ जायेगा। आत्मा को जानने की सच्ची लगन नहीं लगी है, इसीलिये वह कठिन मालूम होता है। मुनिराज तो कहते हैं कि भव्य

जीवों के कान में अमृत डालनेवाली यह बात है; इसे समझ ले तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दरूपी अमृत का अनुभव हो।

सर्वज्ञभगवान ने केवलज्ञान में विविधपर्यायों से युक्त छह प्रकार के द्रव्य देखे हैं; उनमें से जीव के विविध गुण-पर्यायें बतलाकर उसका स्वरूप बतलाया है। जीव का ऐसा स्वरूप पहिचान ले, उसे अपने कारणपरमात्मस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि हुए बिना न रहें।

जीव के अतिरिक्त अन्य पाँच अजीव द्रव्य हैं, वे भी अपने-अपने विविध गुण-पर्यायों से युक्त हैं।

पुद्गलद्रव्य पूरन-गलन स्वभाववाला है, इसलिये पुद्गल एकत्रित हों और पृथक् हों—ऐसा उनका स्वभाव है। और वे श्वेतादि वर्णों के आधारभूत हैं। यह पुद्गलद्रव्य मूर्त है और उसके गुण भी मूर्त हैं; पुद्गल अचेतन है और उसके गुण भी अचेतन हैं।

देखो, यहाँ पुद्गल के वर्णन में भी पर्याय का गुणरूप से कथन किया है। जिसप्रकार जीव के वर्णन में मतिज्ञानादि पर्यायों को विभावगुण कहा, केवलज्ञानादि पर्यायों को शुद्धगुण कहा, उसीप्रकार इस पुद्गल के वर्णन में भी 'वर्णादि गुणों के आधारभूत मूर्त हैं'—इसप्रकार गुण की बात नहीं ली, किन्तु 'श्वेतादि वर्णों के आधारभूत मूर्त है'—ऐसा कहकर पर्याय की बात ली है। श्वेता आदि गुण नहीं किन्तु वर्णगुण की पर्यायें हैं। इसप्रकार पुद्गल को पर्याय के आधारभूत मूर्त कहा; उसीप्रकार जीव में भी 'स्वभावगुणों के आधारभूत...' कहने से स्वाभाविक कारणशुद्धपरिणति के आधारभूत—ऐसा समझना। इसप्रकार स्वभाव में या विभाव में अर्थपर्याय को 'गुण' कहने की टीकाकार की शैली चली आ रही है। टीकाकार महा समर्थ वीतरागी संत हैं, आत्मानुभव की गहराई से यह भाव निकाले हैं; टीकाकार के हृदय का मूल आशय क्या है, वह समझना चाहिये।

जीव और पुद्गल के गुण-पर्यायों की बात कही, अब शेष चार द्रव्यों की बात करते हैं:—

स्वभावगतिक्रियारूप या विभावगतिक्रियारूप परिणत जीव-पुद्गलों को स्वभावगति या विभावगति का निमित्त वह धर्मद्रव्य है; उसीप्रकार स्वभावस्थिति क्रियारूप या विभावस्थिति क्रियारूप परिणत जीव-पुद्गलों को स्थिति का निमित्त वह अधर्मद्रव्य है। पाँच द्रव्यों को अवकाश देने का जिसका लक्षण है, वह आकाशद्रव्य है और पाँच द्रव्यों को प्रवर्तन का निमित्त, वह कालद्रव्य है।

यहाँ धर्मद्रव्यादि के वर्णन में जो निमित्तपना बतलाया है, उसमें भी पर्याय की बात है; क्योंकि निमित्तपना पर्याय में वर्तता है। गति आदि क्रियाओं में धर्मास्तिकायादि त्रिकाली द्रव्य निमित्त नहीं हैं, किन्तु उनकी उस-उस समय की पर्याय निमित्तरूप है; और यह अर्थपर्यायें हैं।

इन चारों अमूर्तद्रव्यों के गुण शुद्ध हैं और उनकी पर्यायें भी शुद्ध हैं; यहाँ पर्याय कहने से व्यंजनपर्याय समझना।

इसप्रकार टीकाकार की शैली देखते हुए जीव को 'सहजज्ञानादि परम स्वभावगुणों का आधार'—कहने में कारणशुद्धपर्याय की ही ध्वनि उठती है। कारणशुद्धजीव में, धर्मास्तिकायादि चार द्रव्यों की भाँति, सहजशुद्धपरिणति त्रिकाल पारिणामिकभावरूप से परिणमित हो रही है, उसका इस नियमसार में स्पष्टतया 'कारणशुद्धपर्याय' रूप से वर्णन किया है। अब अगली (१० से १५ तक) गाथाओं में यह बात बिलकुल स्पष्टरूप से आयेगी।

जीवादि छह द्रव्यों के गुण-पर्यायों का वर्णन करके उस पर कलश चढ़ाते हुए टीकाकार कहते हैं कि—यह छह द्रव्यों के समूहरूपी रत्न हैं, वे किरणोंयुक्त हैं अर्थात् छहों द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों द्वारा शोभायमान हैं। यह द्रव्य के समूहरूपी रत्न जिनेन्द्रदेव के मार्गरूपी समुद्र के बीच विद्यमान हैं। जिनपति मार्ग को यह समुद्र की उपमा दी है; जिनेन्द्रदेव का मार्ग समुद्र की भाँति गम्भीर और गहरा है; उसी में छह द्रव्य के गुणपर्यायों का यथार्थ वर्णन है—अन्यत्र कहीं उनका यथार्थ वर्णन नहीं मिलता। जो तीक्ष्ण बुद्धिवाला पुरुष इस रत्न को हृदय में शोभा के लिये धारण करता है, वह मुक्तिसुंदरी का नाथ होता है। तीक्ष्णबुद्धि द्वारा अर्थात् स्वभाव के अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही इन छह द्रव्यों के गुण-पर्याय ज्ञात होते हैं और उसी में आत्मा की शोभा है।—ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा जो जीव छह द्रव्यों के गुण-पर्यायों को यथार्थरूप से जानता है, वह अपने त्रिकाल शुद्धद्रव्यपर्यायरूप कारणपरमात्मा में एकाग्र होकर मुक्ति प्राप्त करता है।

—इसप्रकार सर्वज्ञदेव ने छह द्रव्य कहे हैं—उनकी बात की, और उन्हें जानने का फल बतलाया। यह जीव अधिकार है, इसलिये अगली गाथाओं में जीव के उपयोगादि का अद्भुत-अलौकिक वर्णन करेंगे।

छह द्रव्य के गुण-पर्यायों के प्रत्यक्ष ज्ञायक—ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञानधारी ज्ञानियों को नमस्कार हो!

सर्वज्ञदेव के सर्व उपदेश का तात्पर्य

[प्रवचनसार गाथा १०२ पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

सर्वज्ञ भगवान ने दिव्यज्ञान में प्रत्येक द्रव्य को अपने-अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप त्रिस्वभाव का स्पर्श करते देखा है, और उपदेश में भी वही स्वरूप बतलाया है।

अहो! पदार्थों का यह एक उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव भलीभाँति पहिचान ले तो भेदज्ञान होकर, स्वद्रव्य के ही आश्रय से निर्मल-निर्मल पर्याय का उत्पाद और मलिनता का व्यय हो;—इसका नाम धर्म है और यही सर्वज्ञदेव के सर्व उपदेश का तात्पर्य है।

प्रत्येक द्रव्य एक समय में अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप त्रिस्वभाव का स्पर्श करता है, उसी समय निमित्त होने पर भी द्रव्य उनका स्पर्श नहीं करता। सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ उस सम्यग्दर्शन के उत्पाद को, मिथ्यात्व के व्यय को और श्रद्धारूप अपनी ध्रुवता को आत्मा स्पर्श करता है; किन्तु सम्यक्त्व के निमित्त ऐसे देव-गुरु या शास्त्र को आत्मा स्पर्श नहीं करता, वे तो पृथक् स्वभाववाले पदार्थ हैं। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति, मिथ्यात्व का व्यय तथा श्रद्धापने की अखण्डतारूप ध्रुवता—इन तीनों का आत्मा में ही समावेश होता है; किन्तु इनके अतिरिक्त जो बाह्य निमित्त हैं, उनका आत्मा में समावेश नहीं होता, वे बाहर ही रहते हैं; इसलिये आत्मा उनका स्पर्श नहीं करता। प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुवतारूप अपना स्वभाव है, उस स्वभाव का ही प्रत्येक द्रव्य स्पर्श करता है, यानी अपने स्वभावरूप ही वर्तता है, किन्तु परद्रव्य के कारण किसी के उत्पाद-व्यय-ध्रुव नहीं हैं। परद्रव्य भी उसके अपने ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव में अनादि-अनंत वर्तता है और आत्मा भी अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव में ही अनादि-अनंत वर्तता है। इसलिये ऐसा समझनेवाले ज्ञानी को अपने आत्मा के उत्पाद-व्यय-ध्रुवता के अतिरिक्त बाह्य में किंचित् भी कार्य अपना भासित नहीं होता; इसलिये उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप जो अपना आत्मा, उसके आश्रय से

निर्मलता का उत्पाद, मलिनता का व्यय होता जाता है और ध्रुवता का अवलम्बन बना रहता है।—इसका नाम धर्म है।

अजीवद्रव्य भी अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप त्रिस्वभाव का ही स्पर्श करता है, पर का स्पर्श नहीं करता। जैसे कि—मिट्टी के पिण्ड में से घड़ा हुआ; वहाँ पिण्ड अवस्था के व्यय का, घट अवस्था के उत्पाद का, तथा मिट्टीपने की ध्रुवता को ही वह मिट्टी स्पर्श करती है, किन्तु कुम्हार-चाक-डोरी या किसी अन्य परद्रव्य का वह स्पर्श नहीं करती; और कुम्हार भी हाथ के हलन-चलनरूप अपनी अवस्था का जो उत्पाद हुआ, उस उत्पाद का ही स्पर्श करता है—अपने से बाह्य ऐसे घड़े का वह कुम्हार स्पर्श नहीं करता।

जगत में छहों द्रव्य एक ही क्षेत्र में विद्यमान होने पर भी, कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य के स्वभाव का स्पर्श नहीं करता; अपने-अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवतारूप स्वभाव में ही प्रत्येक द्रव्य वर्तता है; इसलिये वह अपने स्वभाव का ही स्पर्श करता है। देखो, यह सर्वज्ञदेव कथित वीतरागी भेदज्ञान! इसमें निमित्त-उपादान का स्पष्टीकरण भी आ जाता है। उपादान और निमित्त, यह दोनों पदार्थ एक साथ ही प्रवर्तमान होने पर भी उपादानरूप पदार्थ अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवतारूप स्वभाव ही स्पर्श करता है, निमित्त का वह किंचित् स्पर्श नहीं करता; और निमित्तभूत पदार्थ भी उसके अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवतारूप स्वभाव का स्पर्श करता है, उपादान का वह किंचित् स्पर्श नहीं करता। उपादान और निमित्त-दोनों भिन्न-भिन्न अपने-अपने स्वभाव में ही वर्तते हैं।

अहो, पदार्थों का यह एक उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप स्वभाव भलीभाँति पहिचान ले तो भेदज्ञान होकर स्वद्रव्य के ही आश्रय से निर्मलपर्याय का उत्पाद हो और मलिनता का व्यय हो जाये—उसका नाम धर्म है और वही सर्वज्ञ भगवान के सर्व उपदेश का तात्पर्य है।

लोकोत्तर पदार्थविज्ञान

श्री प्रवचनसार गाथा १११ पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से

(वीर सं. २४८१, द्वितीय भाद्रपद कृष्णा १०)

हे जीव! तेरा आत्मा और जगत के समस्त पदार्थ द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप स्वतंत्र वस्तु हैं। प्रतिक्षण बदलनेवाली तेरी पर्याय का सम्बन्ध तेरे द्रव्य-गुण के साथ ही है, पर के साथ तेरी पर्याय का सम्बन्ध नहीं है। पर के द्रव्य-गुण-पर्याय से तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिये भगवान के कहे हुए ऐसे लोकोत्तर पदार्थविज्ञान को जानकर परपदार्थों के साथ सम्बन्ध की बुद्धि को छोड़ और अपनी पर्याय को अन्तरोन्मुख करके द्रव्य-गुण के साथ एकता कर तो सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-आनंदरूप धर्म हो।

यह आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है; और जगत के स्व-पर समस्त पदार्थ उसके ज्ञान के ज्ञेय हैं; उन ज्ञेयपदार्थों को जानने का आत्मा का स्वभाव है, किन्तु दूसरे ज्ञेयपदार्थों का वह कुछ कर दे-ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, पर से भिन्न है, अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की सत्ता में ही प्रत्येक पदार्थ का समावेश हो जाता है; अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की सत्ता से भिन्न वस्तु में आत्मा कुछ कर नहीं सकता। ऐसे पर से भिन्न ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना ही आत्मा की शांति का उपाय है।

जगत के जड़-चेतन पदार्थ स्वयंसिद्ध हैं, वे अनादि-अनंत हैं; कोई पदार्थ बिलकुल नया उत्पन्न नहीं होता, और न उसका बिलकुल नाश ही होता है; स्वतः स्वयंसिद्ध सत् है, कोई उसका कर्ता या हर्ता नहीं है। अब, स्वयंसिद्ध पदार्थ स्थायी रहकर उसमें प्रतिक्षण नई पर्यायें होती रहती हैं;—प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव से ही नई-नई अवस्थारूप होता रहता है; उसमें दूसरा पदार्थ कुछ कर दे-ऐसा नहीं होता।

देखो, यह पदार्थविज्ञान। पदार्थों का जैसा स्वयंसिद्ध स्वभाव है, वैसा ज्ञान से जानना ही सच्चा पदार्थविज्ञान है। जिसे पदार्थ के स्वभाव की खबर न हो, उसके पदार्थविज्ञान नहीं कहा जाता।

पदार्थ का स्वभाव कैसा है, वह यहाँ बतलाते हैं। जगत के सर्व पदार्थों की यह बात है। पदार्थ स्वयं सदैव अपनेरूप स्थित रहकर प्रतिक्षण नई-नई पर्यायरूप परिणमित होता रहता है।

प्रतिक्षण अवस्था में परिवर्तन होने पर भी पदार्थ सदैव अपने मूलस्वभावरूप से टिका रहता है; मूलस्वभाव कभी नष्ट नहीं हो जाता।—ऐसा जाने तो, पर में मैं कुछ करता हूँ, या पर से मुझमें कुछ हो जाता है—ऐसी मिथ्याबुद्धि छूट जाये। मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय मुझमें और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय पर में;—इसप्रकार भेदज्ञान करके स्वयं अपने स्वभावोन्मुख होने से शांति और आनन्द का अनुभव होता है।

पर से तो मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय नहीं हैं—ऐसा निर्णय किया, इसलिये पराश्रय की बुद्धि तो नहीं रहीं; और अब अपने में भी एक क्षणिक राग या क्षणिक ज्ञानपर्याय के अंश जितना ही पूर्ण आत्मा नहीं है, किन्तु पर्याय बदलने पर भी अखंडरूप से (अन्वयरूप से) पूर्ण द्रव्य वर्तता है—ऐसा निर्णय किया, वहाँ मात्र अंशबुद्धि नहीं रही—पर्यायबुद्धि नहीं रही, किन्तु ध्रुवद्रव्य का आश्रय करके, ध्रुव के साथ पर्याय की अभेदता हुई, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म है। इसके अतिरिक्ति बाह्य में अन्य किसीप्रकार धर्म या शांति नहीं है।

देखो भाई! जगत में चेतन पदार्थ हैं और जड़-अचेतन पदार्थ भी हैं; वे सब सत् हैं। सत् सदैव स्थित रहकर प्रतिक्षण नई पर्यायरूप परिणमित होता है, अर्थात् उत्पाद-द्रव्य-ध्रौव्यरूप है। परिवर्तित होने पर भी कोई पदार्थ अपने मूलस्वभाव को नहीं छोड़ता।

❀ चेतनद्रव्य पलटकर कभी जड़रूप नहीं हो जाता;

❀ जड़द्रव्य पलटकर कभी चेतनरूप नहीं हो जाता।

❀ चेतन सदैव चेतनरूप में परिवर्तित होता है;

❀ जड़ सदैव जड़रूप में परिवर्तित होता है।

—और कोई भी पदार्थ परिवर्तित हुए बिना भी नहीं रहता, प्रतिक्षण अवस्था बदलती रहे—ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है।

पुनश्च, वस्तु की पर्याय बदलती है, वह अपने द्रव्य-गुण के साथ सम्बन्ध रखकर ही बदलती है, किन्तु पर के साथ सम्बन्ध रखकर नहीं बदलती।—ऐसे स्वतंत्रस्वभाव को जानना, सो वीतरागी विज्ञान है।

पदार्थ की पर्यायें अपने द्रव्य-गुण के साथ एकता रखकर ही बदलती हैं, किन्तु अज्ञानी ऐसा मानता है कि पर्यायें निमित्त के कारण बदलती हैं—वह पराधीन मिथ्यादृष्टि है। अहो! मेरी पर्याय का सम्बन्ध तो मेरे त्रिकाली द्रव्य-गुण के साथ है; इसप्रकार अंतर में द्रव्य-गुण के साथ

पर्याय की एकता होने से निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द की उत्पत्ति होती है।

आत्मा की पर्याय में श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द प्रगट हो, उसका सम्बन्ध अपने द्रव्य-गुण-स्वभाव के साथ है, पर के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। त्रिकाली द्रव्य-गुण को प्राप्त करके पर्यायें परिणमित होती हैं, किन्तु द्रव्य-गुण को छोड़कर परिणमित नहीं होती।

उसीप्रकार जड़-पुद्गल की अवस्थाओं में अवस्था स्पर्श-रस-गंधरूप बदलती है, वह भी जड़ के द्रव्य-गुण के साथ सम्बन्ध रखकर ही बदलती है—जीव के कारण नहीं बदलती। जो पर्यायें बदलती हैं, वे अपने ही द्रव्य-गुण के साथ सम्बन्ध रखती हैं;—इसप्रकार पदार्थस्वभाव द्रव्य-गुण-पर्यायरूप है।—ऐसे पदार्थस्वभाव का निर्णय करने से जीव स्वयं अपने द्रव्य-गुण के आश्रय से निर्मल पर्यायरूप परिणमित होता है। यही वीतरागी विज्ञान का फल है। पर के साथ का सम्बन्ध छुड़ाकर अपने द्रव्य-गुणस्वभाव के साथ पर्याय की एकता कराता है—ऐसा यह पदार्थविज्ञान है, इसका फल आनन्द और वीतरागता है। सर्वज्ञभगवान द्वारा कथित ऐसा पदार्थविज्ञान जीव ने पहले कभी एक क्षण भी नहीं किया; यदि पदार्थ के ऐसे पर्यायस्वभाव को पहिचाने तो वीतरागता और मोक्ष हुए बिना न रहे।

प्रश्न—आत्मा और बंध को प्रज्ञा द्वारा किसप्रकार छेदा जा सकता है ?

उत्तर—आत्मा और बंध के नियत स्वलक्षणों की सूक्ष्म अंतरंग सन्धि में प्रज्ञा छैनी को सावधानीपूर्वक पटकने से उन्हें छेदा जा सकता है—ऐसा हम जानते हैं।

❀ आत्मा का स्वलक्षण तो चैतन्य है, क्योंकि वह समस्त ज्ञेय द्रव्यों से असाधारण है।

❀ बंध का स्वलक्षण तो आत्मद्रव्य से असाधारण—ऐसे रागादिक हैं।

(—श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव)

कारणशुद्धपर्याय

[४]

❀ केवलज्ञानरूपी कार्य के कारणभूत कारणस्वभावज्ञानउपयोग ❀

[नियमसार गाथा १० के प्रवचन]

अहो! वन में वास करनेवाले... और आत्मानन्द में लीन रहनेवाले मुनिराज के श्रीमुख से परमागमरूपी अमृत की वर्षा हुई है। उसमें आत्मा के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे भाई! तेरे धर्म का ध्रुव कारण तो तुझमें सदैव विद्यमान है ही, किन्तु तू उसे कारण नहीं बनाता। उस कारण में अन्तर्मुख होकर कार्य प्रगट करने पर खबर पड़ती है कि अहो! यह मेरे कार्य का कारण!—ऐसा भान होने से कारण का कारणपना सफल होता है।

अंतर्मुख होकर अपूर्व कार्य प्रगट किया, तब कारण का भान नवीन प्रगट हुआ, और ज्ञात हुआ कि ओहो! मुझमें ऐसा कारण तो पहले भी था; किन्तु मुझे उसका भान नहीं था, इसलिये कार्य प्रगट नहीं हुआ; अब कारण की महिमा ज्ञात हुई, कारण का भान होने से कार्य प्रगट हुआ, और कारण के साथ कार्य की अपूर्व संधि हुई। अहो मुनिवरों ने कारण और कार्य को साथ ही साथ रखकर अद्‌भुत अमृत बहाया है।

इसे समझकर जो जीव अन्तर्मुख होकर निज स्वभाव में गहराई तक उतर जाता है, उसके मोक्षदशा विकसित हो जाती है... वह सादि-अनंत मंगलरूप है।

[वीर सं. २४८१ पौष शुक्ला नववीं]

अब नियमसार की १० वीं गाथा प्रारम्भ होती है। आज से ठीक बारह वर्ष पूर्व पौष शुक्ला ९ के दिन यह कारणशुद्धपर्याय की बात प्रगट हुई थी, और आज भी ठीक उसी दिन यह दसवीं गाथा प्रारम्भ होती है। इस गाथा में ज्ञान की कारणशुद्धपर्याय का स्पष्ट वर्णन है। पूर्ण आत्मा की कारणशुद्धपर्याय का वर्णन तो अभी पन्द्रहवीं गाथा में आयेगा। इस गाथा में जीव का लक्षण जो उपयोग है, उसके भेदों का वर्णन करते हुए स्वभावज्ञान उपयोग को कारण और कार्यरूप से

बतलाकर अति सरल बात कही है। देखो, मूल गाथा—

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणं त्ति॥

जीव उपयोगमय है। उपयोग ज्ञान और दर्शन है। ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है—स्वभावज्ञान और विभावज्ञान।

'जीव उपयोगमय है।' 'उपयोग' कहने से यहाँ 'परिणाम' की बात है। इस गाथा में उपयोग का लक्षण कहा है। जीव का लक्षण जो उपयोग है, उसके प्रकारों का यहाँ वर्णन किया है। उपयोग के जितने प्रकार यहाँ कहेंगे, वे सब प्रकार पर्यायरूप हैं—यह बात लक्ष में रखना चाहिये।

पहले तो उपयोग का अर्थ क्या है, वह कहते हैं; फिर उसके प्रकार समझायेंगे।

'आत्मा का चैतन्य-अनुवर्ती परिणाम, वह उपयोग है।' देखो, यह उपयोग की व्याख्या। आत्मा का जो त्रिकाल चैतन्यस्वभाव, उसका अनुसरण करके वर्तनेवाला परिणाम, वह उपयोग है। इसमं द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों आ गये।

'आत्मा' वह द्रव्य;

'चैतन्य' वह गुण;

'अनुवर्ती परिणाम' वह पर्याय।

आत्मा द्रव्य है और चैतन्य उसका त्रिकालीगुण है; उस चैतन्य का अनुसरण करके वर्तनेवाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। उपयोग किसी पर का, इन्द्रियों का या राग का अनुसरण करके होता है—ऐसा नहीं कहा, किन्तु चैतन्य का अनुसरण करके होता है—ऐसा कहकर त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुखता कराई है।

उपयोग धर्म है, जीव धर्मी है; दीपक और प्रकाश की भाँति उनका सम्बन्ध है। देखो, आत्मा चैतन्य दीपक है और उपयोग उसका प्रकाश है। रागादिभाव तो अंधकार जैसे हैं। जिसप्रकार प्रकाश में अंधकार नहीं है, उसीप्रकार उपयोग में राग-द्वेष नहीं है। राग-द्वेष वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, स्वाभाविक ज्ञानउपयोग ही आत्मा का स्वभाव है;—ऐसा भेदज्ञान करना, वह मुक्ति का कारण है। 'उपयोग' वह जीव की पर्याय है; इसलिये वह धर्म है और जीव उस पर्याय को धारण करनेवाला है, इसलिये वह धर्मी है। उपयोग के जितने प्रकार हों, वे किसी दूसरे नहीं है; किन्तु जीव का ही धर्म है। मतिज्ञान उपयोग हो या त्रिकाल शुद्धउपयोग हो—वे सर्व उपयोग जीव

का धर्म है और जीव धर्मी है। जिसप्रकार दीपक स्वभाव से ही प्रकाशमान है; उसका स्वभाव पर के कारण नहीं है, उसीप्रकार आत्मा चैतन्य-दीपक है और उपयोग उसका प्रकाश है। आत्मा स्वभाव से ही उपयोगस्वरूप है, किसी पर के कारण उसका उपयोग नहीं है। मति-श्रुतज्ञान का उपयोग भी इन्द्रियों या मन के कारण नहीं होता, वह उपयोग भी जीव का धर्म है।

चैतन्य का उपयोग कहने से उसमें से ज्ञान और दर्शन दोनों का व्यापार आ जाता है। उपयोग ज्ञान और दर्शन—ऐसे दो प्रकार का है। ज्ञान का अनुसरण करके वर्तनेवाले परिणाम, वह ज्ञानोपयोग है, और दर्शन का अनुसरण करके वर्तनेवाले परिणाम, वह दर्शनोपयोग है। उसमें से ज्ञानोपयोग के नौ प्रकारों का (एक कारणरूप, और आठ कार्यरूप) वर्णन करेंगें; तथा दर्शनोपयोग के पाँच प्रकारों का (एक कारणरूप और चार कार्यरूप) वर्णन करेंगे। इसप्रकार उपयोग के कुल मिलाकर चौदह भेद लिये हैं। इन सर्व प्रकार के उपयोग धर्मों का आधार जीव है। पहले जिसप्रकार श्वेतादि गुणों का (-पर्यायों का) आधार पुद्गल कहा था; उसीप्रकार यहाँ उपयोग परिणाम का आधार जीव है।

आत्मा का उपयोग ज्ञान और दर्शन-ऐसे भेदों से दो प्रकार का है। उनमें से ज्ञानोपयोग भी स्वभाव और विभाव ऐसे दो प्रकार का है। यह गुण की बात नहीं, किन्तु उसके परिणामों की बात है। स्वभावज्ञानोपयोग परिणाम और विभावज्ञानोपयोग परिणाम—ऐसे दो प्रकार का ज्ञान का उपयोग है।

स्वभाव और विभाव—ऐसे दो प्रकार के ज्ञानोपयोग में से स्वभावज्ञानोपयोग को कारण और कार्य—ऐसे दो प्रकार का कहेंगे; उसमें मुख्य बात आयेगी। स्वभावज्ञानोपयोग में कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग और कार्यस्वभावज्ञानोपयोग—ऐसे दो प्रकार हैं; वे दो भेद बतलाने का यह हेतु है कि कारण के अवलम्बन से कार्य होता है।

यहाँ पहले स्वभावज्ञानोपयोग का वर्णन करते हैं; फिर उसके कारण और कार्य—ऐसे दो भेद करके उनका वर्णन करेंगे।

कैसा है आत्मा का स्वभावज्ञानोपयोग? स्वभावज्ञानोपयोग अमूर्त है, अव्याबाध है, अतीन्द्रिय है, अविनाशी है। स्वभावज्ञानोपयोग की यह व्याख्या कारण और कार्य दोनों को लागू होती है।

स्वभावज्ञानोपयोग भी कारणरूप और कार्यरूप—ऐसे दो प्रकार का है। चैतन्यस्वभाव का

अनुसरण करके वर्तनेवाले जो स्वभावज्ञानोपयोगरूप परिणाम, वे कारण और कार्य—ऐसे दो भेदवाले हैं।

(१) कारणस्वभावज्ञानोपयोग परिणाम

(२) कार्यस्वभावज्ञानोपयोग परिणाम

(विभावज्ञानोपयोग के भेद अब कहेंगे।)

कार्यस्वभावज्ञानोपयोग तो परिपूर्ण निर्मल ऐसा केवलज्ञान है और उस केवलज्ञान के कारणरूप परमपारिणामिकभाव से स्थित त्रिकाल निरुपाधिरूप सहजज्ञान है, वह कारणस्वभावज्ञानोपयोग है। यह दोनों प्रकार के उपयोग अमूर्त-अव्याबाध-अतीन्द्रिय और अविनाशी हैं। उनमें से कारणस्वभावज्ञानोपयोग तो सदैव अनादि-अनंत अमूर्त-अव्याबाध-अतीन्द्रिय और अविनाशी स्वभाववाला है, और कार्यस्वभावज्ञानोपयोग भी प्रगट होने के पश्चात् वैसे ही स्वभाववाला है। कारणरूप स्वभावज्ञानोपयोग तो सदैव परमपारिणामिकभाव में स्थित है, वह कहीं नवीन नहीं होता। उसमें से केवलज्ञान नया प्रगट होता है, उसे कार्यस्वभावज्ञानोपयोग कहते हैं। यह कारणरूप या कार्यरूप जितने उपयोग कहे जा रहे हैं, वे सब परिणामरूप हैं; क्योंकि चैतन्य का अनुसरण करके वर्तते हुए परिणाम, वह उपयोग है और उसके प्रकारों का यह वर्णन हो रहा है। कारणस्वभावज्ञानोपयोग इससमय भी सर्व जीवों में वर्त रहा है; उसकी बात मुख्यतया समझने योग्य है।

आत्मा के चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करके वर्तते हुए ज्ञानोपयोग के स्वभावपरिणाम एक 'कारणस्वभावरूप' है और दूसरा 'कार्यस्वभावरूप' है। उनमें कारणस्वभावरूप ज्ञानोपयोग अनादि-अनंत है और कार्यस्वभावरूप ज्ञानोपयोग सादि-अनंत है। कारणस्वभावज्ञान को 'परमपारिणामिकभाव में स्थित' कहा है, उसका क्या अर्थ? परमपारिणामिकभाव तो त्रिकाली द्रव्य है और यह कारणस्वभावज्ञानोपयोग उस परमपारिणामिकभाव में स्थित है। 'परमपारिणामिकभाव' वह द्रव्य है, 'उसमें स्थित' वह पर्याय है;—कौन-सी पर्याय?—उत्पाद-व्ययरूप पर्याय नहीं, संसार-मोक्षरूप पर्याय नहीं, किन्तु त्रिकालस्वभाव में स्थितरूप शक्तिरूप यह पर्याय विद्यमान है। यह निरपेक्ष है, कर्म-उपाधि से रहित है, सदृश परिणमनरूप है, सामान्य पारिणामिकभाव की विशेष परिणतिरूप है, वर्तमान में वर्तती है, वह पूज्य है—महिमावंत है—आश्रय करने योग्य है; यह वर्तमान ध्रुवकारणरूप है, उस ध्रुवकारण के आश्रय से पूर्ण कार्य

प्रगट हो जाता है, और पश्चात् भी ध्रुवकारण के आधार से ही पूर्ण कार्य टिकता है। अहो! ऐसा सदृशरूप ध्रुवकारण आत्मा में परिपूर्ण स्वरूप से वर्तमान एकरूप वर्तता है। इस कारण को पकड़ने से निर्मल कार्य हो जाता है।

इस कारण कभी कार्यरूप-उत्पाद-व्ययरूप नहीं होता, निरन्तर द्रव्य के साथ एकरूप रहता है।

केवलज्ञानरूप स्वभावकार्य तो जब प्रगट हो, तब वर्तमान है, किन्तु वह केवलज्ञान प्रगट होने से पूर्व उसके स्वभावकारणरूप ऐसा यह सहज स्वाभाविक ज्ञान-उपयोग, परमपारिणामिक भाव में स्थितरूप सदैव वर्तमान-वर्तमान विराज रहा है। केवलज्ञानरूप कार्य तो पुरुषार्थ से नया प्रगट होता है, और यह कारणस्वभाव-ज्ञानोपयोग तो आत्मा के साथ अनादि-अनंत प्रवर्तमान है, वह कहीं नया प्रगट नहीं होता, उसका भान नया प्रगट होता है।

समयसार की दूसरी गाथा में 'जीव चरित-दर्शन-ज्ञान स्थित...' ऐसा कहा है, उसमें तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र की नई पर्याय प्रगट हुई, उसकी (अर्थात् मोक्षमार्ग की) बात है। यहाँ 'परमपारिणामिकभाव में स्थित' कहा है, वह तो त्रिकाली उपयोगपरिणति की बात है। तथापि यह भी है तो परिणाम! चैतन्य अनुविधायी परिणाम को उपयोग कहा है, वह व्याख्या इसमें भी लागू होती है; यह उपयोग तीनों काल आत्मा के चैतन्य-स्वभाव का अनुसरण करके वर्तता है; इसे 'परिणति' कही है, तथापि उसका वेदन नहीं है; वेदन तो उसके आश्रय से जो नई पर्याय प्रगट हो, उसका होता है।

यहाँ 'उपयोग' की ही बात की है; दूसरे गुणों के बात नहीं की; किन्तु उनमें भी (सुख-श्रद्धा आदि गुणों में भी) इस उपयोगानुसार समझ लेना। कारणशुद्धपरिणति की बात उपयोग की भाँति जीव के समस्त गुणों में लागू होती है।

देखो भाई! यह बात बहुत सूक्ष्म है; किन्तु एकदम अन्तर्स्वभाव की है। जल्दी समझ में न आये; तथापि अंतर में महिमा लाकर ध्यानपूर्वक सुनना चाहिये। यह कोई आत्मा की महिमा की बात कही जा रही है—ऐसा अंतर से बहुमान करना भी ज्ञान की निर्मलता का कारण है।

मूलसूत्र में आचार्य भगवान ने ज्ञानोपयोग को स्वभावज्ञान और विभावज्ञान—ऐसे दो प्रकार का कहा है, उसमें से टीकाकार ने अद्भुतभाव प्रगट किये हैं। स्वभावज्ञानोपयोग कहा, उसमें से कारण और कार्य—ऐसे दो प्रकार निकाले हैं। यहाँ अब स्वभावज्ञान और विभावज्ञान के भेद

बतलाते हैं, उनमें प्रत्यक्ष और परोक्ष की बात फिर कहेंगे। यहाँ जिसे कारणस्वभावज्ञानोपयोग कहा है, उसी का आगे ग्यारह-बारहवीं गाथा में 'स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान' रूप से वर्णन करेंगे। वहाँ केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष और सहजज्ञान को स्वरूपप्रत्यक्ष कहेंगे।

आत्मा के चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करके प्रवर्तन करनेवाले जो सकलविमल केवलज्ञान परिणाम, वह कार्यस्वभावज्ञानोपयोग है। उस स्वभावकार्य के कारण का जो उपयोग है, वह भी आत्मा के चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करके वर्तनेवाला सहज परिणाम है।

कारणस्वभावज्ञान परमपारिणामिकभाव से स्थित है, और कार्यस्वभावज्ञान अर्थात् केवलज्ञान क्षायिकभाव से स्थित है।

तेरहवें गुणस्थान में परिपूर्ण निर्मल केवलज्ञान प्रगट होता है, वह कार्य है; उस कार्य का कारण कौन? कार्य कहाँ से प्रगट हुआ? कौन-से कारण के अवलम्बन से कार्य प्रगट हुआ? वह यहाँ बतलाते हैं।

❀ कोई परद्रव्य आत्मा के केवलज्ञानरूपी कार्य का कारण नहीं है; उत्तम संहननवाला शरीर आदि निमित्तों में से केवलज्ञान नहीं आता।

❀ शुभ-अशुभ विकारीभाव भी केवलज्ञान का कारण नहीं है। शुभ-अशुभभाव तो केवलज्ञान के बाधक हैं, उनमें से केवलज्ञान कैसे प्रगट हो सकता है?

❀ साधकदशा में मति-श्रुतादि ज्ञान होते हैं, उन्हें व्यवहार से केवलज्ञान का कारण कहा जाता है, किन्तु वास्तव में उस अधूरे ज्ञान में से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता, इसलिये वह भी वास्तव में केवलज्ञान का कारण नहीं है; उसके आश्रय से केवलज्ञान नहीं होता। अपूर्णपर्याय में से पूर्ण पर्याय कैसे प्रगट हो सकती है? केवलज्ञान पूर्ण कार्य है, इसलिये उसका कारण भी पूर्ण ही होता है—वह यहाँ बतलाते हैं।

चैतन्य के परमपारिणामिकभाव में जो सदैव स्थित है, जो त्रिकाल निरुपाधि है, सदैव परिपूर्ण है—ऐसा कारणस्वभावज्ञान ही केवलज्ञान का कारण है; उस कारण के अवलम्बन से ही पूर्ण कार्य प्रगट हो जाता है। इस कारण का स्वीकार (श्रद्धा, आश्रय) करते ही साधकदशा प्रारम्भ हो जाती है और उसी के आश्रय से अल्पकाल पूर्णकार्य प्रगट हो जाता है।

पूर्णकार्य अर्थात् कार्यस्वभावज्ञान प्रगट होने पर विभावज्ञान का अभाव हो जाता है, किन्तु कारणस्वभावज्ञान का अभाव नहीं होता। विभावज्ञानवाले जीव को भी कारणस्वभावज्ञान तो

त्रिकाल विद्यमान है; किन्तु अज्ञानी को उसका भान नहीं है। ज्ञानी को साधकदशा में कारणस्वभावज्ञान का भान है, तथापि अभी अमुक विभावज्ञान भी है। विभावज्ञान और कारणस्वभावज्ञान—दोनों एक साथ होते हैं, किन्तु विभावज्ञान और कार्यस्वभावज्ञान, वे दोनों एक साथ नहीं होते। कारणस्वभावज्ञानोपयोग तो सर्व जीवों के त्रिकाल वर्तमान शक्तिरूप वर्त रहा है। एक आत्मा को उपयोग के सर्वप्रकार एकसाथ नहीं होते।

भाई! तू जीव है, और उपयोग तेरा लक्षण है। अपने उपयोग की महिमा तो देख! तेरे उपयोग में कैसे-कैसे प्रकार विद्यमान हैं, उनका यह वर्णन है। प्रत्येक जीवत्व में इतनी गंभीरता भरी है।

जीव का लक्षणउपयोग; उपयोग अर्थात् चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाला परिणाम; उसके कुल चौदह प्रकार—

१ कारणस्वभावज्ञान उपयोग (त्रिकाल)

१ कार्यस्वभावज्ञान उपयोग (केवलज्ञान)

४ ज्ञान उपयोग (सम्यक्मतिज्ञानादि)

३ अज्ञान उपयोग (कुमतिज्ञानादि)

—इसप्रकार ज्ञान उपयोग के नौ प्रकार हैं, उनमें से पहले दो स्वभावज्ञान हैं और शेष सात विभावज्ञान हैं तथा—

१ कारणस्वभाव दर्शन उपयोग,

१ कार्यस्वभावदर्शन उपयोग,

३ विभावदर्शन उपयोग

— इसप्रकार दर्शन उपयोग के पाँच प्रकार हैं। इसप्रकार उपयोग के कुल चौदह प्रकार हैं। यह सब 'चैतन्य का अनुसरण करके वर्तनवाले परिणाम' हैं। कारणस्वभावज्ञान और कारणस्वभावदर्शन—यह दोनों भी ध्रुवचैतन्यस्वभाव का अनुसरण करके वर्तते हुए उपयोगपरिणाम हैं; वे दोनों त्रिकाल एकरूप निरूपाधि हैं; उनका परिणमन सदैव सदृशरूप है। इनके अतिरिक्त बारह प्रकार के उपयोग हैं, वे सब उत्पाद-व्ययरूप हैं। कर्म के क्षयोपशम-क्षय आदि की अपेक्षावाले हैं। उपयोग के चौदह प्रकार कहे, वे सब आत्मा के चैतन्य का अनुसरण करके वर्तनेवाले हैं। केवलज्ञानउपयोग भी आत्मा के चैतन्यस्वभाव का ही अनुसरण करके होता

है; पूर्व के चार ज्ञान का अनुसरण करके केवलज्ञान नहीं होता। उसीप्रकार मतिज्ञान का उपयोग भी किसी पर का-इन्द्रियों का या राग का अवलम्बन करके नहीं होता, किन्तु आत्मा के चैतन्य का अनुसरण करके ही होता है।

देखो, यह जीव के उपयोग का वर्णन!

जीव धर्मी है और यह उपयोग उसका धर्म है। यहाँ 'धर्म' अर्थात् स्वभाव; इस समय 'धर्म' का अर्थ सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग नहीं समझना चाहिये, किन्तु जीव ने अपने उपयोग को अपने में धारण कर रखा है, इसलिये उपयोग, वह जीव का धर्म है और जीव, धर्मी है- ऐसा समझना चाहिये। जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाशधर्म को धारण कर रखता है, उसी प्रकार आत्मा अपने उपयोगधर्म को धारण कर रखता है। आत्मा उपयोगरहित नहीं हो सकता। उपयोग के जो चौदह प्रकार कहे, वे सब प्रकार एक साथ एक ही जीव के नहीं होते। उनमें से जो कारणस्वभावज्ञानोपयोग और कारणस्वभावदर्शनोपयोग है, वह तो सर्व जीवों के सदैव है। शेष बारह प्रकारों में से कार्यस्वभावज्ञानोपयोग और कार्यस्वभावदर्शनोपयोग तो केवलज्ञानी भगवन्तों के ही होते हैं; तथा शेष दस प्रकार छद्मस्थों के ही होते हैं।

जीव उपयोगस्वभावी है, उसका यह वर्णन है। ऐसे जीवतत्त्व को पहिचाने बिना सम्यक्श्रद्धा नहीं होती। जितने उपयोग कहे, वे सभी जीव का तत्त्व हैं, जीव के भाव हैं; जीव को भलीभाँति पहिचानने के लिये उसके भावों को भी जानना चाहिये।

❀ जीव उपयोगमय है।

❀ चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाले परिणाम, वह उपयोग है।

❀ उस उपयोग के दो प्रकार हैं—ज्ञान और दर्शन।

❀ उनमें से ज्ञान उपयोग के दो प्रकार हैं—स्वभाव और विभाव।

❀ स्वभावज्ञान दो प्रकार का है—कारण और कार्य।

यह जो कारणस्वभावज्ञान-उपयोग है, वह ज्ञान के सहज परिणाम हैं। यहाँ ज्ञान के उपयोग का वर्णन है, और आगे पूर्ण जीवद्रव्य की सहज परिणति का 'कारणशुद्धपर्याय' रूप से वर्णन करेंगे।

केवलज्ञान, वह कार्यस्वभावज्ञान है, और वह कारणस्वभावज्ञान के आश्रय से प्रगट होता है। कारणरूप ध्रुव उपयोग है, उस ध्रुव के अवलम्बन से कार्य प्रगट हो जाता है। 'वर्तमान ध्रुव' वह

वर्तमान कार्य का कारण है। अरिहंत भगवान कार्य परमात्मा हैं; उनके केवलज्ञानरूपी कार्य कहां से प्रगट हुआ?—तो कहते हैं कि कारणरूप ध्रुवज्ञानस्वभाव में से। इसप्रकार अरिहंत परमात्मा के शुद्धकारण कार्य को पहिचाने तो अपने में भी शुद्ध कारण के अवलम्बन से शुद्ध कार्य (सम्यक्दर्शनादि) हुए बिना न रहे; क्योंकि भगवान जैसा ही कारण अपने में है। अहो! मुनिवरों ने कारण-कार्य को एक ही साथ रखकर अद्भुत अमृत बहाया है। ऐसे वीतरागी मुनिराज पर किसी प्रकार का दोषारोपण करना तो महान अपात्रता है।

यह तो सच्ची समझ के मंत्र कहे जाते हैं... यह धर्म के मंत्र हैं... इन्हें समझे—इनकी प्रीति हो और अंतर में उतर जाये तो स्वरूप का परमानन्द प्रगट हो और अनादिकालीन मिथ्यात्व का विष उतर जाये,—ऐसे यह अलौकिक मंत्र हैं। अहो! जंगल में वास करनेवाले और आत्मानंद में लीन रहनेवाले ऐसे पद्मप्रभ मुनिराज का मन इस परमागम के सार की पुष्टि रुचि से पुनः पुनः अत्यन्त प्रेरित होने पर इस टीका की रचना हो गई है... मुनिराज के श्रीमुख से परमागम का अमृत झरा है।

'कारणज्ञानस्वभावज्ञान' वह आत्मा के उपयोगलक्षण का एक प्रकार है; वह त्रिकाल निरुपाधिक परिणाम है। निगोद से लेकर सिद्ध तक के प्रत्येक जीव में कर्म की अपेक्षा रहित एकरूप ज्यों का त्यों यह उपयोग वर्तता है; एक समय में तीनकाल-तीनलोक को प्रत्यक्ष जाननेवाला कार्य जो केवलज्ञान, उसका यह कारण है; यह कारणस्वभावज्ञान, वह स्वरूप प्रत्यक्षउपयोग है, उसमें कभी परोक्षपना नहीं है, अपूर्णता नहीं है। प्रतिसमय परिपूर्ण ध्रुवकारणरूप, स्वरूप प्रत्यक्ष उपयोग, वह जीव का सहजस्वभाव है, वह केवलज्ञान का कारण है।—ऐसे कारण की जो प्रतीति करता है, उसे केवलज्ञान की शंका नहीं रहती। यह अपूर्व बात है।

देखो, एक दूसरी बात! विशेष फिर।

सम्यग्दृष्टि निःशंक और निर्भय है

ज्ञानी का सम्यग्दर्शन किसी संयोग के अवलम्बन से नहीं हुआ है, किन्तु स्वभाव के अवलम्बन से हुआ है; इसलिये किन्हीं भी संयोगों के भय से वे सम्यक्त्व से च्युत नहीं होते; जिस स्वरूप के अवलम्बन से सम्यक्त्व हुआ है उसी के अवलम्बन से वे अपने सम्यक्त्व में निःशंक और निर्भयरूप से परिणमित होते हैं; इसलिये सम्यग्दृष्टि निःशंक और निर्भय है। —पूज्य गुरुदेव

* 'इच्छामि' *

'हे संत धर्मात्मा! मैं तुम्हारी इच्छा करता हूँ'—अर्थात् जैसे शुद्धात्मा की तुम साधना कर रहे हो वैसे शुद्धात्मा की मैं इच्छा करता हूँ—उसे मैं चाहता हूँ—इसप्रकार शुद्धात्मा की रुचि करना—चाहना करना 'इच्छामि' का अर्थ है।

इसलिये

हे भव्यजीवो! सर्व प्रकार के उद्यम द्वारा प्रयत्न करके आत्मा को जानो... उसकी श्रद्धा करो... कि जिससे आत्मा की मुक्ति हो!—ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।

[श्री सूत्रप्राभृत गाथा १३ से १६ पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

अष्टप्राभृत की तेरहवीं गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द भगवान कहते हैं कि गृहस्थपने में वस्त्रादि सहित होने पर भी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा 'इच्छाकार' करने योग्य हैं।

यहाँ धर्मात्म के प्रति 'इच्छाकार' करना कहा, उसमें महान रहस्य है। 'इच्छामि' अर्थात् मैं इच्छता हूँ। क्या इच्छता हूँ? हे संत धर्मात्मा! जैसा स्वभाव आप के प्रगट हुआ, वैसे ही स्वभाव को मैं इच्छता हूँ; मैं पुण्य को नहीं इच्छता, राग को नहीं इच्छता; किन्तु राग रहित शुद्धज्ञानानन्दस्वभाव के जैसे सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान आपके आत्मा में प्रगट हुए हैं, वैसे ही श्रद्धा-ज्ञान को मैं इच्छता हूँ।

इसप्रकार धर्मात्मा के प्रति 'इच्छामि' करनेवाले की रुचि राग से हट गई है और उसका जोर स्वभावोन्मुख हो गया है। स्वभाव का इच्छुक होकर धर्मात्मा के प्रति 'इच्छामि' कहता है। 'इच्छामि' कहकर जिसने धर्मात्मा का आदर किया, उसने वास्तव में तो रागरहित अपने स्वभाव का ही आदर किया है। अहो! गृहस्थ धर्मात्मा के प्रति 'इच्छामि' करनेवाले का भी कितना दायित्व है। धर्मात्मा के प्रति 'इच्छामि' करनेवाले जीव की रुचि का प्रवाह ही बदल गया है।

जिज्ञासु जीव गृहस्थ धर्मात्मा के प्रति 'इच्छामि' करता है, अर्थात् हे संत! मैं तेरी इच्छा करता हूँ, तेरे आत्मा का आदर करता हूँ, तेरे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान की इच्छा करता हूँ; उसे मेरी अनुमोदना है, अर्थात् उससे विरुद्ध भाव की मैं इच्छा नहीं करता।—ऐसा 'इच्छामि' का अर्थ है। ऐसे भाव सहित इच्छामि करे, वही सच्चा इच्छामि है। वास्तव में तो आत्मा की रुचि करना-आत्मा को चाहना-उसी की लगन लगाना ही 'इच्छामि' का अर्थ है। जिसे आत्मा की ऐसी रुचि नहीं है, उसे तो धर्म का आचरण सच्चा नहीं होता।

'अहो, धर्मात्माओं! जैसे शुद्धचिदानन्द आत्मा की तुम साधना कर रहे हो, उसी की मैं इच्छा रखता हूँ, उसी को चाहता हूँ; राग को या पुण्य को नहीं चाहता।' इसप्रकार स्वभाव की भावना द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट करे और फिर अमुक राग टूटने से व्रत हों, तब श्रावकत्व कहलाता है। जिसे अभी आत्मा की रुचि ही नहीं है और राग की रुचि है, उस जीव को व्रतादि कोई भी आचरण यथार्थ नहीं होता; उसे मुनिदशा या श्रावकदशा नहीं होती। धर्म का मूल तो सम्यग्दर्शन है, और वह सम्यग्दर्शन शुद्ध आत्मस्वरूप की चाहना द्वारा होता है। जगत की इष्टता छोड़कर शुद्ध आत्मा को ही इष्ट करे—उसी की भावना करे, तभी सम्यग्दर्शन होता है; और सम्यक्दर्शनपूर्वक ही श्रावक या मुनि के व्रतादि होते हैं।

इसलिये आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि—हे भव्य जीवो! तुम प्रयत्नपूर्वक आत्मा को पहिचानो; प्रयत्नपूर्वक आत्मा की श्रद्धा करो; जिनसे आत्मा की मुक्ति हो—ऐसे सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-प्रयत्नपूर्वक; प्रयत्नपूर्वक आत्मा को पहिचानो। देखो, आचार्य भगवान ने प्रयत्न की स्पष्ट बात कही है; आत्मा के सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान प्रयत्नपूर्वक ही होते हैं; इसलिये सर्वप्रकार के उद्यम से प्रयत्न करके स्वरूप की रुचि करो... ज्ञान करो... श्रद्धा करो, कि जिससे आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति हो।

अनेक जीव पूछते हैं कि हम क्या करें?—तो आचार्यदेव यहाँ बतलाते हैं कि हे भव्य! अपना सारा उद्यम आत्मा के स्वरूप को जानने में लगा। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसे प्रयत्न से जान। दूसरे आडम्बर से क्या प्रयोजन है? श्रद्धा-ज्ञान रहित आचरण कहीं आत्मा को हितरूप नहीं है। इसलिये जिससे आत्मा का हित हो, वह करो... सर्व प्रयत्न को इस ओर लगाकर आत्मा के स्वरूप को पहिचानो और श्रद्धा करो—कि जिससे आत्मा का अपूर्व हित हो। ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।

सुख के शोधक से...

रे जीव! तू विचार तो कर कि जिस सुख को तू शोध रहा है, वह तुझमें है या बाह्य में? अपना सुख अपने से भिन्न किसी वस्तु में नहीं होता। बाह्य में कहीं तेरा सुख नहीं है, तेरा सुख तुझमें ही भरा है; उस सुखानुभव के लिये तू अपने वास्तविक स्वभाव को पहिचान! —पूज्य गुरुदेव

आनंद

श्री प्रवचनसार गाथा १०७ पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन में से आनंदस्वभाव की अद्भुत बात!

[वी सं. २४८१, द्वितीय भाद्रपद कृष्णा-२]

आत्मा के द्रव्य-गुण में त्रिकाल आनंद भरा है; किन्तु उसका वेदन तो पर्याय में होता है; पर्याय में जिसे आनंद का वेदन नहीं है, उसे द्रव्य-गुण के आनंद की भी खबर नहीं है—प्रतीति नहीं है।

पर्याय में व्यक्त आनंद के वेदनपूर्वक ही द्रव्य-गुण में व्याप्त आनंदस्वभाव की प्रतीति होती है।

पर्याय में आनंद का वेदन कब होता है ?—जिसमें आनंदस्वभाव भरा है, उस ओर उन्मुख होकर एकाग्रता करे तो आनंद का वेदन होता है।

पर्याय अपने आनंदस्वभाव की ओर उन्मुख न होकर पर की ओर ढलती है—पर में आनंद मानती है, इसलिये उसका आनंदगुण पर्याय में यथार्थरूप से व्याप्त नहीं होता, किन्तु विपरीतरूप से व्याप्त होता है—वह दुःख है।

द्रव्य-गुण में आनंदस्वभाव भरा है, वह व्यक्त होकर पर्याय में कब व्याप्त होता है ?

—कि जब आनंदस्वभावी द्रव्य-गुण के साथ पर्याय की एकता हो, तब उस आनंदगुण का परिणमन पर्याय में भी उल्लसित होता है।

अहो ! आनंद तो मेरा स्वभाव है। मेरा आत्मा आनंदवान पदार्थ है। मेरा आत्मा आनंद को धारण करनेवाला है; और वह आनंद द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त हो-ऐसा स्वभाव है।—ऐसी प्रतीति करके जहाँ पर्याय स्वोन्मुख हुई, वहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों की एकता हुई और तीनों में आनंद व्याप्त हो गया। द्रव्य और गुण में तो आनंद सदैव व्याप्त ही था, किन्तु जब पर्याय में आनंद व्याप्त हुआ—आनंद का अनुभव हुआ, तब द्रव्य-गुण में भरे हुए आनंद का भान हुआ कि—अहो ! मेरा आत्मा ही ऐसे आनंदस्वभाव से परिपूर्ण है।

अकेले द्रव्य-गुण में ही आनंद की बात करे और पर्याय में आनंद भासित न हो, तो उसने सचमुच द्रव्य-गुण के आनंदस्वभाव का स्वीकार ही नहीं किया है। अहो! मेरे द्रव्य-गुण त्रिकाल आनंदस्वभाव से भरपूर हैं—ऐसा स्वीकार किसने किया?

—पर्याय ने स्वीकार किया।

—पर्याय ने किसकी ओर देखकर वह स्वीकार किया?—अन्तर्मुख होकर आनंदस्वभावी द्रव्य-गुण के साथ अभेद हुई पर्याय ने वह स्वीकार किया है, और वह पर्याय भी आनंद से भरपूर है।

पहले अनादि काल से अपने आनंदवान आत्मा की ओर न देखकर परसन्मुख ही देखता था—वही आनंद मानता था, तब पर्याय में आनंद के बदले उसकी विकृतिरूप दुःख व्याप्त होता था। अब, जहाँ पर्याय को अन्तरोन्मुख करके द्रव्य-गुण के साथ एकाकार किया, वहाँ वह पर्याय भी आनंदरूप हो गई।—इसप्रकार आनंदस्वभाव का आश्रय करने से दुःख दूर होकर पर्याय सुखरूप हुई—आनंदरूप हुई। इसीप्रकार आनंदगुण द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापक है।

यहाँ आनंदगुण की जो 'अद्भुत' बात कही है, तदनुसार सम्यक्त्वगुण, ज्ञानगुण, चारित्रगुण आदि में भी समझना चाहिये। प्रत्येक गुण, द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापक है;—लेकिन किसप्रकार?—कि उस गुणस्वभावी आत्मा का आश्रय करने से पर्याय में उसका निर्मल परिणमन हो जाता है, और इसप्रकार वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में समान रीति से (निर्मलरूप से) व्याप्त हो जाता है।

भेदज्ञान की भावना

आत्मा ज्ञानस्वरूप है; इसलिये शरीर में रोग या पीड़ा होती है, उसका आत्मा तो ज्ञाता ही है; आत्मा को शरीर के रोग की पीड़ा नहीं होती; ज्ञान ही होता है—ऐसा लक्ष निरंतर रखना चाहिये और उसे दृढ़ करना चाहिये।

शरीर में चाहे जैसी पीड़ा हो, तथापि 'मैं आत्मा ज्ञाता हूँ'—ऐसे लक्षपूर्वक रोग में शांति रखने से वह शांति सच्चा फल देती है। परमपूज्य महाराज श्री कानजीस्वामी परमपुरुष हैं, उनका बहुमानपूर्वक स्मरण करना चाहिये। यदि देह छूटने का प्रसंग हो तो, 'देह आत्मा से भिन्न है'—ऐसे उपयोग की अच्छी तरह सावधानी रखना चाहिये। देह को वेदना होने से आत्मा को वेदना नहीं होती, इसलिये शरीर की वेदना का वेदन नहीं करना चाहिये। शरीर से भिन्न आत्मा की सावधानी रखना चाहिये।

मैं ज्ञाता आत्मा हूँ, शरीर मैं नहीं हूँ;

राग-द्वेष मैं नहीं हूँ, मन मैं नहीं हूँ;

धन मैं नहीं हूँ।—मैं तो अनन्त गुणों का पिण्ड हूँ!

[उपरोक्त भावना बहिनश्री बहिन (चंपाबहिन) ने अपने पूज्य पिताजी को अन्तिम समय में भाने के लिये लिख दी थी। जिज्ञासुओं के लिये उपयोगी होने से यहाँ दी है।]

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी